भारतीय सन्दर्भ में भूमण्डलीकरण, आधुनिकीकरण एवं विकास

डॉ0 राकेश प्रताप शाही*

कतिपय गम्भीर प्रश्न भी कभी–कभी अपने मूल अर्थ से विचलित होकर अनर्गल विवाद के विषय बन जाते हैं, मात्र इसलिये कि उनकी रचना दोषपूर्ण होती हैं। यदि प्रश्न गलत ढंग से रखे जाते हैं तो उनके उत्तर भी गलत मिलेंगे और उन उत्तरों को लेकर जो बहस प्रारम्भ होगी, वह भी बहुत कुछ अनावश्यक और निरर्थक होगी। विकास का, या यूँ कहिए, सामाजिक परिवर्तन का व्यापक प्रश्न भी, कुछ ऐसे ही प्रश्नों की श्रेणी में आता है जो अपनी भ्रामक रचना के कारण न केवल अपने मूल अर्थ से हटकर एक पूर्वाग्रही विवाद का विषय बन गया है, बल्कि उसके प्रत्याशित उत्तरों को लेकर जिन अवधारणाओं और सिद्धान्तों का विकास हुआ है उन्होंने इसे अपनी केन्द्रीय समस्या से हटाकर एक स्वार्थपरक वैचारिकी का जामा पहना दिया है।

विकास क्या है ? विकास और परिवर्तन के मानक और सिद्धान्त क्या हो, इस विषय पर मत स्थापन में अपनी अनेक कमजोरियों के बावजूद भी इसे पश्चिम के बुद्धिजीवियों का पूरा समर्थन मिला और शायद इसलिये भी कि इसने पश्चिमी समाज की अन्य समाजों के ऊपर श्रेष्ठता, सदा के लिये स्थापित करने के प्रचुर योग दिया और साथ ही इन समाजों पर इसके साम्राज्यवादी अभिभावकत्व का औचित्य भी सिद्ध करने में सहायता की। तुलनात्मक पद्धति ने विकास और पिछड़ेपन का अन्तर उजागर ही कर दिया था, क्योंकि इसने यह साबित कर दिया था कि पश्चिमी समाज विकास का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं और इससे इतर समाज जिन्हें समाज वैज्ञानिक अविकसित समाज या मध्यवर्ती की संज्ञा प्रदान करते हैं, पिछड़ेपन के।

विकास और सामाजिक परिवर्तन का प्रश्न, कम से कम अपने वर्तमान बहुचर्चित रूप में इन्हीं 'मध्यवर्ती समाजों' के प्रसंग में सबसे पहले उठाया गया और खसतौर से द्वितीय महायुद्ध के बाद, जब इनमें से बहुतेरे समाज एक लम्बे औपनिवेशिक जीवन की सामाजिक और आर्थिक यातनायें झेलकर समकालीन इतिहास में प्रविष्ट हुए। विकास के अधिकारिक सिद्धान्त के भीतर इस प्रश्न का केवल एक ही उत्तर था और वह यह कि यदि इन समाजों को अपने अर्द्धमानवीय अस्तित्व को बदलना है तो, उन्हें अपने से श्रेष्ठ तथा अपने अभिभावक समाजों के रास्ते पर चलना होगा। दूसरे शब्दों में उन्हें यूरोप को विकास का आदर्श बिन्दु मानकर उसका अनुकरण करना होगा। यूरोपीय आदर्श के अनुकरण का सीधा अर्थ था, उन गुणों का वरण जिसका प्रतीक अमेरिका को सम्मिलित करके यूरोप था, और उन गुणों का त्याग जिनके प्रतीक स्वयं से समाज थे, अर्थात् एक शब्द में–आधुनिकता का वरण और परम्परा का त्याग। आधुनिकता का अभ्युदय यूरोप में हुआ तो अवश्य परन्तु कलान्तर में इसके दो रूप हो गये, क्योंकि इतिहास ने अपनी गति में आधुनिक यूरोप को भी दो हिस्सों में बाँट दिया था। आधुनिकता के इन दोनों रूपों को हम अपनी सुविधा के लिये दक्षिणपंथी आधुनिकता और वामपंथी आधुनिकता कह सकते हैं। तात्पर्य यह कि द्वितीय महायुद्ध के पूर्व जो विश्व समाज अधिनायक राष्ट्रों तथा आश्रित राष्ट्रों में विभाजित था, वह अब और विखण्डित होकर वामपंथी अधिनायक राष्ट्रों, दक्षिणपंथी अधिनायक राष्ट्रों और आश्रित राष्ट्रों में बँट गया। इस तरह आश्रित राष्ट्रों के सामने अपने विकास के लिये आधुनिकता के दो आदर्श मिल गये – पहला वामपंथी आधुनिकता का आदर्श और दूसरा दक्षिणपंथी आधुनिकता का आदर्श।

* **समाजशास्त्र विभाग, श्री भगवान महावीर पी0जी0 कालेज, पावानगर (फाजिलनगर), कुशीनगर**

उक्त विभाजन को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की भाषा में हम पहली दुनिया, दूसरी दुनिया और तीसरी दुनिया कहते हैं। पहली दुनिया और दूसरी दुनिया के राष्ट्रों का परस्पर सम्बन्ध द्वन्द्व का है परन्तु तीसरी दुनिया के सन्दर्भ में ये दोनों गुट एक हो जाते हैं और तीसरी दुनिया से इनका सम्बन्ध पुनः द्वन्द्व का हो जाता है। समकालीन विश्व समाज में हो रहे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के नाटक की सबसे बड़ी विशेषता राष्ट्रों में परस्पर आधपत्य और आश्रयता का यही द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है। अधिनायक विश्व, आश्रित विश्व को सहानुभूति और दया के नाम पर आर्थिक सहायता देता है और इसके बुद्धिजीवी आश्रित विश्व के बुद्धिजीवियों को, अपने लोगों में आधुनिकता के आदर्शों का प्रचार करने के लिये प्रेरित करते रहते हैं। इसी प्रकार आश्रित विश्व के बुद्धिजीवी अपने शासनारूढ़ अभिजनों के निरन्तर सम्पर्क में रहते हैं और उनकी ओर से जनसाधारण को आधुनिकता और विकास के पथ पर चलने के लिए प्रेरित करते रहते हैं। परन्तु जनसाधारण में न तो उनकी भाषा समझने की शक्ति है और न ही उनका जवाब करने की। इस दृष्टि से आश्रित देशों के वामपंथी और दक्षिणपंथी बुद्धिजीवियों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। जनसाधारण से दोनों ही कटे हुए हैं परन्तु शासनारूढ़ अभिजनों से वे दोनों ही मिले हुए हैं। बुद्धिजीवियों का जनसाधारण से कटा रहना और शासनारूढ़ अभिजनों से जुड़ा रहना मात्र संयोग की बात नहीं है। जिसे जुलियन बेंदा ने 'बुद्धिजीवियों की दगाबाजी' कहा है वे आधुनिकता की मूल्य स्थापनाओं का सहज और अनिवार्य परिणाम है। परन्तु यदि हम इसे स्वीकार भी कर ले कि आधुनिकता का अंगीकरण विकास की पूर्वापेक्षा है, तब भी यह प्रश्न तो रह ही जाता है कि आधुनिकता के अंगीकरण का अर्थ परम्परा का त्याग है अथवा नहीं।

वस्तुतः भारत के सार्वजनिक जीवन में व्याप्त अप्रतिमानता का कारण यही नहीं है कि उसके आधुनिकीकरण की गति धीमी है अर्थात् जिस गति से आधुनिकता के मूल्यों को इसे अंगीकार करना चाहिए था उस गति से उन्हें अंगीकार नहीं कर पा रहा है। कारण इसका उल्टा है भारत के सार्वजनिक जीवन में आज जितने भी दोष आ गये हैं, चाहे वह उसका नरम और लचीला अनुशासन हो, या वह उसके लोगों की तथाकथित अकर्मण्यता हो या उनका तथाकथित भ्रष्टचारी जीवन हो, वे भारत के सांस्कृतिक परम्परा के अंग नहीं है, बल्कि इन्हें भारत ने आधुनिकता के संसर्ग से प्राप्त किया है। भारतीय समाज आज भी आधुनिकता के आदर्शों और मूल्यों को स्वीकृति देने या इन्हें अपनाने से इंकार कर रहा है क्योंकि इन्हें अपनाने का अर्थ होगा उसके परम्परागत मूल्यों और प्रतिमानों का आमूल प्रत्यावर्तन, जिसके लिये भारत शायद तैयार नहीं है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वह अपनी दरिद्रता और पिछड़ेपन के कृत्रिम तथा इतिहास प्रदत्त संकट का सामना नहीं कर सकता गुन्नार मिर्डल या विलियम कैप 3 सरीखे भारत की आर्थिक विपन्नता के प्रति सहानुभूति रखने वाले अर्थशास्त्रियों को यह नहीं भूलना चाहिए कि आधुनिकता के संसर्ग में आने से पहले भारत की आर्थिक सम्पन्नता पश्चिम के देशों की ईर्ष्या का विषय थी। जैसे कि महर्षि अरविन्द ने लिखा है ''भारत की सम्पन्नता की दीप्ति, हिन्द का वैभव, इसका स्वर्ण जटिल द्वार कभी पश्चिम के लिये जो उस समय भारत के वैभव के बहुत पीछे था, बर्बरता के प्रतीक थे। परन्तु अब स्थिति उलट गयी है। वैभव की बर्बरता तथा सम्पन्नता के भेड़े प्रदर्शन के केन्द्र, अब लन्दन न्यूयार्क और पेरिस हो गये और और अब भारत की नगन्ता उसकी घिनौनी दरिद्रता उसकी संस्कृति के निकम्मेपन को प्रमाण के रूप में उसके सामने प्रदर्शित किये जाते हैं।

परम्परात्मक समाज में मानव शाश्वत का अंश या यो कहिए सनातन सम्भावनाओं की विशिष्ट अभिव्यक्ति माना जाता है और संस्थायें मानी जाती है, सनातन नियमों का विशिष्ट देशकालिक रूप। परन्तु इसके ठीक विपरीत स्थिति आधुनिक समाज की है, जहाँ मनुष्य काल का अंश और इतिहास का संतान माना जाता है और संस्थायें मानी जाती है सामूहिक आदतों से उत्पन्न और तर्कबुद्धि द्वारा प्रमाणित और अनुमादित रूढ़ियाँ। जहाँ तर्कबुद्धि मूल्यों के प्रमाणीकरण का सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्त है, वहाँ

विज्ञान और यांत्रिकी जीवन के अनुशासक सिद्धान्त होंगे क्योंकि यह दोनों तर्कबुद्धि के उपादान है। जहाँ जीवन के अनुशासक सिद्धान्त विज्ञान और यांत्रिकी है वहाँ जीवन्त मूल्यों और प्रतिमानों का स्थान विज्ञान और यांत्रिकी द्वारा उद्भूत कृत्रिम मूल्य तथा प्रतिमान ले लेंगे। ऐसे समाजों में पौराणिक गाथाओं तथा रहस्यानुष्ठानों का, जिसके माध्यम से मानव जीवन की हर समस्या को आदिकाल से सुलझाता आया है, जीवन में कोई स्थान नहीं रह जाता। इनका स्थान विज्ञान और यांत्रिकी ले लेते हैं। पश्चिम का समाज अपने विकास के क्रम में, इसी अवस्था में पहुँच गया है। परिणाम है जीवन का अमानवीकरण, जिसमें जीवन का स्थान कृत्रिम मानवीय मूल्यों तथा इनकी प्राप्ति के कृत्रिम संस्थागत साधनों ने ले लिया है। सी0 राईट मिल्स' ने विज्ञान को एक झूठा और पाखण्डी मसीहा' अकारण ही नहीं कहा। जाक बारजू जब विज्ञान को अकल का दुश्मन कहते है और हरबर्ट मरक्यूज जब विज्ञान और यांत्रिकी द्वारा निर्मित आधुनिक औद्योगिक समाज को एक आयामी समाज की संज्ञा से सम्बोधित करते है तो वे भी उसी आवाज की प्रतिध्वनि करते है जो मिल्स ने विज्ञान के प्रति उठाई है। परन्तु पश्चिम के बुद्धिजीवियों की विपत्ति यह है कि जब वे अपनी संस्थाओं से अधिक पीड़ित होने लगते है तो वे मानवतावादी, समाज वैज्ञानिक और अस्तित्ववादी दार्शनिक बन जाते हैं और स्वतंत्रता के लिये चिल्लाते हैं जिससे मुक्त होने का अब उनके पास कोई उपाय नहीं बचा है। परन्तु एशिया का मानव चाहे वह कितना ही अभागा क्यों न हो पश्चिम के मानव की तुलना में इस दृष्टि से अधिक भाग्यवान है क्योंकि वह आज भी अपनी खोई हुई स्वतंत्रता को प्राप्त कर सकता है और पश्चिम के मानव की गैर स्वतंत्रता से अपने को बचा सकता है।

वह ऐसा किस प्रकार कर सकता है, विकास के नये सिद्धान्त का विषय है। हम कम से कम यह बात अच्छी तरह समझ के विकास के आधिकारिक सिद्धान्त की सीमा के भीतर स्वतंत्रता और विकास की बात करना ही व्यर्थ है। इस सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए भारत अपनी आर्थिक तथा राजनैतिक व्यवस्था को अब तक काफी नुकसान पहुँचा चुका है। पिछले डेढ़ सौ वर्षों से अनवरत् हमें ऐसा विश्वास करने के लिये तैयार किया गया कि हमारा समाज बुरा है, अतः हमने ज्यों ही समकालीन इतिहास में प्रवेश किया अर्थात् हमारा अस्तित्व ज्यों ही स्वतंत्र हुआ, हमने एक–एक करके अपनी सारी परम्परात्मक संस्थाओं को तोड़ना शुरू किया। निःपरम्पराकरण की इस प्रक्रिया के साथ ही साथ हमने अपना आधुनिकीकरण भी प्रारम्भ किया। दान में प्राप्त औपनिवेशिक संस्थाओं का अनुमोदन करने के साथ–साथ हमने अपनी परम्परागत संस्थाओं को औपनिवेशिक संस्थाओं को जामा पहनाना शुरू कर दिया परिणामस्वरूप एक अच्छे समाज के नाम पर हमारे प्रयासों से जो समाज उभर रहा है, वह कृत्रिम अभिजनीन संस्थाओं से बना हुआ ऐसा समाज है जो हमारी परम्परा के अनुरूप ही नहीं बल्कि जनसाधारण की आशाओं और आकांक्षाओं से दूर है। स्थिति यह है कि इन संस्थाओं के माध्यम से अपने सांस्कृतिक मूल्यों को प्राप्त करने के बजाय उसे इनसे जूझना पड़ रहा है। यह न केवल हमारी अपनी सुचिंतित परम्परा का निषेध बल्कि उसे अनुप्राणित करने वाले भारतीय संस्कार पर भी आघात है जबकि भारतीयता का अर्थ ही उसके संस्कार है।

अपनी केन्द्रित नियोजन नीति को ही लें जिसमें जनसाधारण की आवश्यकताओं का निर्धारण एक अभिजनीय समूह द्वारा होता है जिसे उसकी आवश्यकताओं और आकांक्षाओं का सही अन्दाज तक नहीं। ऐसी नियोजन व्यवस्था में सामान्य जन की भूमिका विशेषज्ञों के निर्देशों के अनुपालन मात्र की होती है। ऐसे अनेक समाजशास्त्रीय अध्ययन है जो दर्शाते हैं कि नियोजन के काम जन साधारण तक नहीं पहुँच रहे है। विशेषाज्ञों को भी ऐसा अहसास हो रहा है कि आर्थिक विकास लोगों के लिये सामाजिक न्याय नहीं दे पा रहा है। ऐसी व्यवस्था में, जहाँ विकास का अर्थ कृत्रिम आवश्यकताओं का प्रसार तथा इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये साधनों की खोज है, लोगों को सामाजिक न्याय दे पाना असम्भव है। नियोजन के इस अभिजातीय सिद्धान्त में खेती के ऊपर उद्योग को प्राथमिकता मिलना

उतना ही स्वाभाविक है जितना गाँव के ऊपर नगर को। आज ग्रामीण विकास की जिस प्रकार चर्चा की जाती है उससे ऐसा लगता है कि ग्रामीण समाज नगरीय समाज का एक अनावश्यक पुछल्ला है। हम चाहे माने या न माने, गाँव के प्रति हमारा पूरा दृष्टिकोण दया और उपेक्षा का लगभग उसी प्रकार का है जो अधिनायक विश्व तीसरी दुनिया के प्रति रखता है। मान्यता यह है कि यदि गाँवों को विकसित होना है तो उन्हें नगरीय जीवन पद्धति अपनाना होगा, और चूँकि गाँव स्वतः ऐसा नहीं कर सकते, और नगरों को उनकी सहायता करनी होगी। ऐसी स्थिति में गाँव के प्रसंग में हम अधिक से अधिक प्रतीकात्मक आधुनिकीकरण की बात सोच सकते हैं, जो हम कर रहे है। यह अलग बात है कि अपने इस प्रतीकात्मक तथा अनमने आधुनिकीकरण के विरूद्ध भी गाँवों में भीषण प्रतिक्रिया हुई है।

परम्परागत समाज में गाँवों और नगरों के स्वाभाविक सम्बन्धों का स्वरूप कैसा हो, यह अलग विवेच्य विषय है लेकिन यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि दोनों ही एक सांस्कृतिक पूर्णता के संरचनात्मक खण्ड है और दोनों एक दूसरे के पूरक है न कि विरोधी। एक ही पूर्णता के खण्ड के रूप में इन दोनों को इस प्रकार विकसित होना है कि दोनों एक दूसरे का विकास कर सके और साथ ही साथ उसका सांस्कृतिक पूर्णता का भी विकास कर सके जिसके वे अंग है। किन्तु विकास का सिद्धान्त इस वास्तविकता से कोसों दूर है, यह केवल मिथ्या वैचारिकी न रहकर स्वार्थपरक क्रिया कौशल तथा नियंत्रण का सशक्त उपकरण बन गया है। अतः भारत और तीसरी दुनिया के अन्य सभी राष्ट्रों में विकास वैकल्पिक सिद्धान्त के निर्माण की पूर्वापेक्षा है। वह कार्यक्रम जिसे फेरे ने स्वतंत्रता के लिये सांस्कृतिक क्रान्ति कहा है। इस क्रान्ति का पहला चरण होगा जनसाधारण का पुनर्शिक्षण–उन्हें ऐसी शिक्षा देना जो उनकी खामोशी की संस्कृति को तोड़ सके। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि एक लम्बे औपनिवेशिक शासन ने इन राष्ट्रों के ऊपर किस प्रकार एक ऐसी संस्कृति लाद दी थी, जिसने उन्हें मूक बना दिया था। जनसाधारण की खामोशी ज्यों ही दूर हुई और वे ज्यों ही बोलने की स्थिति में हुए, उन्हें स्वयं एहसास हो जायेगा कि उनके लिये नर्मित की जा रही नयी अभिजातवर्गीय संस्थायें, उनके स्वतंत्र अस्तित्व के लिये किस प्रकार बाधायें उत्पन्न कर सकती है। फरे द्वारा प्रस्तावित सांस्कृतिक क्रान्ति का दूसरा चरण होगा उन संस्थाओं का निर्माण, जो लोगों की वास्तविक इच्छाओं और आकांक्षाओं के अनुरूप हो और उनकी अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं पर आधारित हो। जाहिर है कि ऐसा कार्यक्रम, मूल्यों के कागजी परिवर्तन मात्र से पूरा नहीं हो सकता। इसकी पृष्ठभूमि तैयार करने के लिये आवश्यकता होगी सांस्कृतिक पुनर्जागरण की, जो हमें पुनः अपनी राष्ट्रीय परम्पराओं में अपनी अस्मिता को ढूँढ़ने तथा अपनी संस्कृति के जीवन्त मूल्यों और आदर्शों के अनुरूप सामाजिक संस्थाओं के पुनर्निर्माण की आवश्यक प्रेरणा दे सकेगा। भारत ने अपनी अस्मिता की खोज राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन के मध्य ही प्रारम्भ कर दिया था, जब ऐसा लगता था कि हम सांस्कृतिक पुनर्जागरण की दिशा में जा रहे हैं। हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का मुख्य लक्ष्य राजनैतिक अवश्य था, परन्तु इसकी अपनी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि थी, जिसकी ओर इतिहासकारों का ध्यान कम गया है। गांधी ने जिस स्वदेशी आन्दोलन का सूत्रपात किया था वह मात्र राजनैतिक आन्दोलन नहीं था, उसका लक्ष्य केवल विदेशी शासन से मुक्ति नहीं थी बल्कि अपनी खोई हुई धरती, अपनी खोई हुई भाषा, अपने खोये हुए धर्म या यो कहिए अपने खाये हुए सांस्कृतिक अस्तित्व को फिर से प्राप्त करना था। राजनैतिक स्वतंत्रता तो अपने सांस्कृतिक अस्तित्व को हासिल करने का सिर्फ पहला जरूरी कदम था।

परन्तु सांस्कृतिक पुनर्जागरण की जो लहर राष्ट्रीय अभिजन, जिसने यह लहर उठाई थी, सत्तारूढ़ अभिजन हो गया जन मानव से उसका सम्बन्ध टूट गया और अपनी सर्जनाशक्ति खोकर उसने आधुनिकता का अन्धानुकरण प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार प्रारम्भ हुआ औपनिवेशिक संस्थाओं का अनुमोदन जो हमें विरासत में मिली थी और विकास के नाम पर आधुनिकता के मूल्यों का अन्धानुकरण। परिणाम सबके सामने है। भारत की सांस्कृतिक बहुलता नई नहीं है। नई केवल वे दरारे हैं जो इसके

शरीर में पड़ गयी है और जो जातिगत, सम्प्रायगत तथा क्षेत्रगत तनवों और संघर्षों में निरन्तर अभिव्यक्त होती रहती है। संस्कृति बहुल समाज में एकता की आधारशिला पराभौतिक मूल्य ही हो सकते हैं जो हर संस्कृति के मूल में होते हुए भी उसकी वाह्य संरचना से परे होते हैं। ये पराभौतिक मूल्य शाश्वत होते हैं न कभी नये होते हैं, न पुराने और न ही ये कभी मरते हैं।

भारत के तथाकथित बहुसंख्यक है और अल्पसंख्यक समुदायों की सांस्कृतिक परम्पराओं में कोई मौलिक विरोध नहीं है। ये सभी अपने अलग–अलग रूपों में शाश्वत मूल्यों की ही देशकालिक अभिव्यक्तियाँ है। यह दर्शाने का दायित्व सर्जनात्मक अभिजनों का है कि भारत की सारी विविध सांस्कृतिक परम्परायें एक ही सम्पूर्णता की अलग–अलग परते हैं, और इनमें किसी प्रकार का अन्तर्विरोध नहीं है। इसी प्रकार इन विविध सांस्कृतिक मूल्यों तथा स्वतंत्रता, न्याय और समता के नये मूल्यों में, जिनके ऊपर हम अपने उदीयमान राष्ट्रीय जीवन की दीवारें खड़ी करना चाहते हैं, में कोई विरोध नहीं है। इसी प्रकार कोई परम्परा न न्याय से विमुख है और न ही समता से। ये जीवन के शाश्वत मूल्य है, न कि मानवता को आधुनिक पश्चिम की नई देन।

इन मूल्यों का परम्परा से विरोध तभी उत्पन्न होता है जब इन्हें इनके आधुनिक उल्टे रूप में रखकर इन्हें परम्परा से जोड़ा जाता है। परम्पराबद्ध मानव को प्राकृतिक न्याय का पूरा ज्ञान है, हाँ उसे न्याय के आधुनिक रूप को समझने में अवश्य कठिनाई होती है जो इतना मँहगा है और इतनी देर से मिलता है। वह अपने धर्म को जानता है और यह भी जानता है कि राजा राज अवश्य करता है लेकिन वास्तविक शासन धर्म ही करता है। लेकिन उसे कानून का शासन समझने मं कठिनाई होती हैं, जिसमें वास्तविक शासन तो व्यक्ति करते हैं और कानून केवल राज करता है। अतः यदि परम्पराबद्ध मानव आधुनिकता के मूल्यों से विमुख है तो अकारण ही नहीं।

अन्त में यह बात साफ कर देनी जरूरी है कि विकास चाहे जिस भी वस्तु का विकास हो, परम्परा से उतना ही सुसंगत है जितना वह आधुनिकता से असंगत। आधुनिकता के अनुसार विकास का अर्थ है मानव और समाज का एकवर्गीय दृष्टिकोण से परिवर्तन और नियंत्रण परन्तु परम्परा के अनुसार इसका अर्थ है मानव और समाज का स्वाभाविक विकास, उनका ऐसा रूपान्तरण जो उनके 'फिजिस'* जैसा जैसा यूनानी दार्शनिकों ने सोचा था, या उनके 'स्वभाव'** जैसा भारत के मनीषियों ने सोचा था, के अनुरूप हों। निष्कर्ष यह कि विकास के सिद्धान्त को भली–भाँति समझने के लिये हमें परम्पराओं का सम्यक् अवबोध करना आवश्यक है। परम्पराओं के स्रोत पुराण तथा गाथाएँ है। अपनी परम्परा के शाश्वत मूल्यों में नई सम्भावनायें ढूँढ़कर इनके अनुरूप अपनी सामाजिक संस्थाओं का पुनर्गठन करना, भारत के बौद्धिक अभिजनों के लिये एक ऐतिहासिक चुनौती है।

यदि वे इस चुनौती को स्वीकार कर सकें तो वे न केवल भारत के समग्र विकास को नई दिशा दे सकेंगे, बल्कि उसे अपनी अस्मिता को फिर से खोजने तथा अपनी सांस्कृतिक बहुलता को समरूपता का सुदृढ़ आधार प्रदान करने में प्रचुर योग दे सकते हैं।

---

* परिवर्तन के सम्पूर्ण यूनानी दर्शन का केन्द्र बिन्दु 'फिजिस' की अवधारणा है। हर वस्तु का, चाहे वह कोई वृक्ष हो, या स्वयं मनुष्य हो, अपना 'फिजिस' अर्थात अपने विकास की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। हेराक्लाइट्स ने 'फिजिस' की तुलना एक नैनिक पुलिस' से की थी और इस अर्थ में कि जैसे पुलिस व्यवस्था की रक्षा करती है उसी प्रकार हर वस्तु का 'फिजिस' उससे विकास को नियमित करता है। यदि कोई वस्तु अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार ना विकसित हो रही है तो उसका 'फिजिस' उससे तुरन्त बदला लेता है।

** भारतीय परम्परा में 'स्वभाव' को अनित्य में नित्य की अभिव्यक्ति माना गया है जो हर अनित्य वस्तु को एक निश्चित रूप प्रदान करती है और उसे किसी अन्य वस्तु में परिणत होने से रोकती है। ठीक उसी प्रकार यूनानी परम्परा में 'फिजिस' हर परिवर्तनशील स्थूल अथवा सूक्ष्म वस्तु में स्थायित्व का बिन्दु है।

सन्दर्भिका :–

1. पारसंस, टालकाट, सोसाइटीज, इंगिलबुड क्लिफस न्यू जरसी प्रेन्टिस हाल, फाउन्डेशन आफ मार्डन सोशियोलाजी सिरीज, 1966
2. वेंदा, जूनियन, द विट्रेयल आफ इन्टेलेक्चुअल्स, अनु0 रिचार्ड आलिंगटन, द वेकन प्रेस, बोस्टन, 1955
3. मिर्डल गुन्नार, एशियन ड्रामा, पेलिकन बुक्स, 1968 तथा चैकेन्स आफ वर्ल्ड पावर्टी, 1971
– कैप, विलियन के, हिन्दू कल्चर : इकोनामिक डेवलपमेन्ट एण्ड इकोनामिक प्लैनिकग इन इण्डिया, एशिया पब्लिसिंग हाउस, बम्बई, 1966
4. श्री अरविन्द, द फाउन्डेशन्स ऑफ इण्डियन कल्चर, श्री अरविन्द आश्रम, पांडिचेरी, 1959, पृ0 73
5. मिल्स, सी0 राइट, द सोशियोलाजिक्क इमैजिनेशन, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, 1959
6. बारजू, जाक, द हाउस आफ इन्टलेक्ट, हार्पर एण्ड ब्रदर्स, न्यूयार्क, 1959
7. मरक्यूज, हर्बर्ट, द वन डाइमेन्शनक मैन, रटलज एण्ड केगनपाल, लन्दन, 1964
8. फेरे, पालो, कलचरल एक्शन फार फ्रीडम एण्ड पेडेगामी आफ द आप्रेस्ड, पिंगुइन एजूकेशन, 1973